

दृष्टान्ताभास

परार्थ अनुमान प्रसङ्ग में हेत्वाभास का निरूपण बहुत प्राचीन है। कणादसूत्र (३.१.१५) और न्यायसूत्र (१. २. ४-६) में वह स्पष्ट एवं विस्तृत है। पर दृष्टान्ताभास का निरूपण उतना प्राचीन नहीं जान पड़ता। अगर दृष्टान्ताभास का विचार भी हेत्वाभास जितना ही पुरातन होता तो उसका सूचन कणाद या न्यायसूत्र में थोड़ा बहुत जरूर पाया जाता। जो कुछ ही इतना तो निश्चित है कि हेत्वाभास की कल्पना के ऊपर से ही पीछे से कभी दृष्टान्ताभास, पक्षाभास आदि की कल्पना हुई और उनका निरूपण होने लगा। यह निरूपण पहिले वैदिक तार्किकों ने शुरू किया था बौद्ध तार्किकों ने, इस विषय में अभी कुछ भी निश्चित कहा नहीं जा सकता।

दिङ्नाग के माने जानेवाले न्यायप्रवेश में पाँच साधर्म्य और पाँच वैधर्म्य ऐसे दस दृष्टान्ताभास हैं^१। यद्यपि मुख्यतया पाँच-पाँच ऐसे दो विभाग उसमें हैं तथापि उभयासिद्ध नामक दृष्टान्ताभास के अन्तर्गत दो प्रकार भी उसमें किये गए हैं जिससे वस्तुतः न्यायप्रवेश के अनुसार छः साधर्म्य दृष्टान्ताभास और छः वैधर्म्य दृष्टान्ताभास फलित होते हैं। प्रशस्तपाद ने भी इन्हीं छः-छः साधर्म्य एवं वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों का निरूपण किया है^२। न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के निरूपण में उदाहरण और भाव एक से ही हैं अलवत्ता दोनों के नामकरण में अन्तर अवश्य है। प्रशस्तपाद दृष्टान्ताभास शब्द के बदले निदर्शनाभास शब्द का

१ 'दृष्टान्ताभासो द्विविधः साधर्म्येण वैधर्म्येण च.....तत्र साधर्म्येण... तद्यथा साधनधर्मासिद्धः साध्यधर्मासिद्धः उभयधर्मासिद्धः अनन्वयः विपरीतान्वयश्चेति ।... वैधर्म्येणापि दृष्टान्ताभासः पञ्चप्रकारः तद्यथा साध्याव्यावृत्तः साधनान्व्यावृत्तः उभयाव्यावृत्तः अव्यतिरेकः विपरीतव्यतिरेकश्चेति... ..।' -न्यायप्र० पृ० ५-६।

२ 'अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति । तद्यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् यदमूर्तं दृष्टं तन्नित्यम् यथा परमाणुर्यथा कर्म यथा स्थाली यथा तमः अम्बरवदिति यद् द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टमिति च लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः । यदनित्यं तन्मूर्तं दृष्टं यथा कर्म यथा परमाणुर्यथाकाशं यथा तमः घटवत् यन्निक्रियं तद्द्रव्यं चेति लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धाव्यावृत्तविपरीतव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शनाभासा इति ।'-प्रशस्त० पृ० २४७।

प्रयोग पसन्द करते हैं क्योंकि उनकी अभिमत न्यायवाक्य परिपाटी में उदाहरण का बोधक निदर्शन शब्द आता है। इस सामान्य नाम के सिवाय भी न्याय-प्रवेश और प्रशस्तपादगत विशेष नामों में मात्र पर्याय भेद है। माठर (का० ५) भी निदर्शनाभास शब्द ही पसन्द करते हैं। जान पड़ता है वे प्रशस्तपाद के अनुगामी हैं। यद्यपि प्रशस्तपाद के अनुसार निदर्शनाभास की कुल संख्या बारह ही होती है और माठर दस संख्या का उल्लेख करते हैं, पर जान पड़ता है कि इस संख्याभेद का कारण—आश्रयासिद्ध नामक दो साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास की माठर ने विवक्षा नहीं की—यही है।

जयन्त ने (न्यायम० पृ० ५८०) न्यायसूत्र की व्याख्या करते हुए पूर्ववर्ती बौद्ध-वैशेषिक आदि ग्रन्थगत दृष्टान्ताभास का निरूपण देखकर न्यायसूत्र में इस निरूपण की कमी का अनुभव किया और उन्होंने न्यायप्रवेश वाले सभी दृष्टान्ताभासों को लेकर अपनाया एवं अपने मान्य ऋषि की निरूपण कमी को भारतीय टीकाकार शिष्यों के दृङ्ग से भक्त के तौर पर दूर किया। न्यायसार में (पृ० १३) उदाहरणाभास नाम से छः साधर्म्य के और छः वैधर्म्य के इस तरह बारह आभास वही हैं जो प्रशस्तपाद में हैं। इसके सिवाय न्यायसार में अन्य के नाम से चार साधर्म्य के विषय में सन्दिग्ध और चार वैधर्म्य के विषय में सन्दिग्ध ऐसे आठ सन्दिग्ध उदाहरणाभास भी दिये हैं^१। सन्दिग्ध उदाहरणाभासों की सृष्टि न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के बाद की जान पड़ती है। धर्मकीर्ति ने साधर्म्य के नव और वैधर्म्य के नव ऐसे अठारह दृष्टान्ताभास सविस्तर वर्णन किये हैं। जान पड़ता है न्यायसार में अन्य के नाम से जो साधर्म्य और वैधर्म्य के चार-चार सन्दिग्ध उदाहरणाभास दिये हैं उन आठ सन्दिग्ध भेदों की किसी पूर्ववर्ती परम्परा का संशोधन करके धर्मकीर्ति ने साधर्म्य और वैधर्म्य के तीन-तीन ही सन्दिग्ध दृष्टान्ताभास रखे। दृष्टान्ताभासों की संख्या, उदाहरण और उनके पीछे के साम्प्रदायिक भाव इन सब बातों में उत्तरोत्तर विकास होता गया जो धर्मकीर्ति के बाद भी चालू रहा।

जैन परम्परा में जहाँ तक मालूम है सबसे पहिले दृष्टान्ताभास के निरूपक सिद्धसेन ही हैं; उन्होंने बौद्ध परम्परा के दृष्टान्ताभास शब्द को ही चुना न कि

१ 'अन्ये तु संदेहद्वारेणापरानष्टाबुदाहरणाभासान्वर्णयन्ति । सन्दिग्धसाध्यः
 ... सन्दिग्धसाधनः सन्दिग्धोभयः सन्दिग्धाश्रयः...
 सन्दिग्धसाध्याव्यावृत्तःसन्दिग्धसाधनाव्यावृत्तः... .सन्दिग्धोभयाव्यावृत्तः ..
 ...सन्दिग्धाश्रयः.....।'—न्यायसार पृ० १३-१४ ।

वैदिक परम्परा के निदर्शनाभास और उदाहरणाभास शब्द को । सिद्धसेन ने अपने संक्षिप्त कथन में संख्या का निर्देश तो नहीं किया परन्तु जान पड़ता है कि वे इस विषय में धर्मकीर्ति के समान ही नव-नव दृष्टान्ताभासों को माननेवाले हैं । माणिक्यनन्दी ने तो पूर्ववर्ती सभी के विस्तार को कम करके साधर्म्य और वैधर्म्य के चार-चार ऐसे कुल आठ ही दृष्टान्ताभास दिखलाए हैं और (परी० ६. ४०-४५) कुछ उदाहरण भी बदलकर नए रचे हैं । वादी देवसूरि ने तो उदाहरण देने में माणिक्यनन्दी का अनुकरण किया, पर भेदों की संख्या, नाम आदि में अन्तरशः धर्मकीर्ति का ही अनुकरण किया है । इस स्थल में वादी देवसूरि ने एक बात नई जरूर की । वह यह कि धर्मकीर्ति ने उदाहरण देने में जो वैदिक ऋषि एवं जैन तीर्थंकरों का लघुत्व दिखाया था उसका बदला वादी देवसूरि ने सम्भवित उदाहरणों में तथागत बुद्ध का लघुत्व दिखाकर पूर्ण रूप से चुकाया । धर्मकीर्ति के द्वारा अपने पूज्य पुरुषों के ऊपर तर्कशास्त्र में की गई चोट को वादिदेव सह न सके, और उसका बदला तर्कशास्त्र में ही प्रतिबन्धी रूप से चुकाया^२ ।

१ 'साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः । अरलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः ॥ वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः । साध्यसाधनयुग्मानामनिवृत्तेश्च संशयात् ॥'-न्याय० २४-२५ ।

२ 'यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्, कर्मवत् परमाणुवद् घटवदिति साध्यसाधन-धर्मोभयविकलाः । तथा सन्दिग्धसाध्यधर्मादयश्च, यथा रागादिमानव्यं वचनाद्रथ्या-पुरुषवत्, मरणधर्माऽयं पुरुषो रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत् असर्वज्ञोऽयं रागादि-मत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत् इति । अनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च, यथा यो वक्ता स रागादि-मानिष्टपुरुषवत्, अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् इति । तथा विपरीतान्वयः, यदनित्यं तत् कृतकमिति । साधर्म्येण । वैधर्म्येणापि, परमाणुवत् कर्मवदाकाश-वदिति साध्याद्यव्यतिरेकिणः । तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः, यथाऽसर्वज्ञाः कपिलादयोऽनासा वा, अविद्यमानसर्वज्ञतासताल्लिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनत्वादिति, अत्र वैधर्म्योदाहरणम्, यः सर्वज्ञः आतो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्, तद्यथर्षभवर्धमानादिरिति, तत्रासर्वज्ञतानाप्तयोः साध्यधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः । सन्दिग्धसाधनव्यतिरेको यथा न त्रयीविदा ब्राह्मणेन ब्राह्मवचनः कश्चित्पुरुषो रागादिमत्त्वादिति, अत्र वैधर्म्योदाहरणं ये ब्राह्मवचना न ते रागादिमन्तः तद्यथा गौतमादयो धर्मशास्त्राणां प्रणेतार इति गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य व्यावृत्तिः सन्दिग्धा । सन्दिग्धोभयव्यतिरेको यथा, अवीतरागाः कपिलादयः

आ० हेमचन्द्र नाम तो पसन्द करते हैं दृष्टान्ताभास, पर उसे उदाहरणा-

परिग्रहाग्रहयोगादिति, अत्र वैधर्म्योदाहरणम्, यो वीतरागो न तस्य परिग्रहाग्रहो यथर्षभादेरिति, ऋषभादेरवीतरागत्वपरिग्रहाग्रहयोगयोः साध्यसाधनधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः । अव्यतिरेको यथा, अवीतरागो वक्तृत्वात्, वैधर्म्योदाहरणम्, यत्रावीतरागत्वं नास्ति न स वक्ता, यथोपलक्षणम् इति, यद्यप्युपलक्षणम् इत्युभयं व्यावृत्तं यो सर्वो वीतरागो न वक्तृतेति व्याख्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकः । अपदर्शितव्यतिरेको यथा, अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदिति । विपरीतव्यतिरेको यथा, यदकृतकं तन्नित्यं भवतीति ।'—न्यायवि० ३. १२५-१२६ ।

'तत्रापौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वाद् दुःखवदिति साध्यधर्मविकल इति । तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्मविकल इति । कलशवदिति उभयधर्मविकल इति । रागादिमानयं वक्तृत्वात् देवदत्तवदिति सन्दिग्धसाध्य-धर्मैति । मरणधर्माऽयं रागादिमत्त्वान्मैत्रवदिति सन्दिग्धसाधनधर्मैति । नाऽयं सर्वदर्शी सरागत्वान्मुनिविशेषवदिति सन्दिग्धोभयधर्मैति । रागादिमान् विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वादिष्टपुरुषवदिति अनन्वयः । अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्य-प्रदर्शितान्वय इति । अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् यदनित्यं तत्कृतकं घटवदिति विपरीतान्वय इति । वैधर्म्येणापि.....। तेषु भ्रान्तमनुमानं प्रमाणत्वात् यत्पुनर्भ्रान्तं न भवति न तत्प्रमाणम्, यथा स्वप्नज्ञानमित्यसिद्धसाध्यव्यतिरेकः स्वप्नज्ञानात् भ्रान्तत्वस्यानिवृत्तेरिति । निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रमाणत्वात्, यत्तु सविकल्पकं न तत् प्रमाणम्, यथा लौकिकमित्यसिद्धसाधनव्यतिरेकः लौकिकात्प्र-माणत्वस्यानिवृत्तेः । नित्यानित्यः शब्दः सत्त्वात् यस्तु न नित्यानित्यः स न सन् तद्यथा स्तम्भ इत्यसिद्धोभयव्यतिरेकः, स्तम्भान्नित्यानित्यत्वस्य चाव्यावृत्तेरिति । असर्वज्ञोऽनाप्तो वा कपिलः अक्षिणैकान्तवादित्वात्, यः सर्वज्ञ आप्तो वा स क्षिणैकान्तवादी यथा सुगत इति सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकः सुगतेऽसर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोर्व्यावृत्तेः सन्देहादिति । अनार्यवचनः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागादि-मत्त्वात् यः पुनरादेयवचनः स वीतरागः तद्यथा शौद्धोदनिरिति सन्दिग्धसाधन-व्यतिरेकः शौद्धोदने रागादिमत्त्वस्य निवृत्तेः संशयादिति । न वीतरागः कपिलः करुणास्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्षितनिजपिशितशकलत्वात्, यस्तु वीतरागः स करुणास्पदेषु परमकृपया समर्षितनिजपिशितशकलस्तद्यथा तपनबन्धुरिति सन्दिग्धो-भयव्यतिरेक इति तपनबन्धौ वीतरागत्वाभावस्य करुणास्पदेष्वपि परमकृपयानर्षित-निजपिशितशकलत्वस्य च व्यावृत्तेः सन्देहादिति । न वीतरागः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वात्, यः पुनर्वीतरागो न स वक्ता यथोपलक्षणम् इत्यव्यतिरेक इति ।

भास के स्थान में क्यों पसन्द किया इसका युक्तिसिद्ध खुलासा भी कर देते हैं^१। दृष्टान्ताभास के निरूपण में आ० हेमचन्द्र की ध्यान देने योग्य महत्त्व की तीन विशेषताएँ हैं जो उनकी प्रतिभा की सूचक हैं—१—उन्होंने सूत्ररचना, उदाहरण आदि में यद्यपि धर्मकीर्ति को आदर्श रखा है तथापि वादिदेव की तरह पूरा अनुकरण न करके धर्मकीर्ति के निरूपण में थोड़ा सा बुद्धिसिद्ध संशोधन भी किया है। धर्मकीर्ति ने अनन्वय और अव्यतिरेक ऐसे जो दो भेद दिखाए हैं उनको आ० हेमचन्द्र अलग न मानकर कहते हैं कि बाकी के आठ-आठ भेद ही अनन्वय और अव्यतिरेक रूप होने से उन दोनों का पार्थक्य अनावश्यक है (प्र० मी० २. १. २७)। आ० हेमचन्द्र की यह दृष्टि ठीक है। २—आ० हेमचन्द्र ने धर्मकीर्ति के ही शब्दों में अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शित-व्यतिरेक ऐसे दो भेद अपने सोलह भेदों दिखाए हैं (२. १. २७), पर इन दो भेदों के उदाहरणों में धर्मकीर्ति की अपेक्षा विचारपूर्वक संशोधन किया है। धर्मकीर्ति ने पूर्ववर्ती अनन्वय और अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास जो न्यायप्रवेश आदि में रहे^२ उनका निरूपण तो अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शित व्यतिरेक ऐसे नए दो अन्वय स्पष्ट नाम रखकर किया^३ और न्यायप्रवेश आदि के अनवय और अव्यतिरेक शब्द को रख भी लिया तथा उन नामों से नये उदाहरण दिखाए^४ जो उन नामों के साथ मेल खा सकें और जो न्यायप्रवेश आदि में

अन्वयः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदित्यप्रदर्शितव्यतिरेक इति । अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् यदकृतकं तन्नित्यं यथाकाशमिति विपरीतव्यतिरेक इति ।’—प्रमाणन० ६. ६०-७६ ।

१ ‘परार्थानुमानप्रस्तावादुदाहरणदोषा एवैते दृष्टान्तप्रभवत्वात् दृष्टान्तदोषा इत्युच्यन्ते ।’—प्र० मी० २. १. २२ ।

२ ‘अनन्वयो यत्र विनाऽन्वयेन साध्यसाधनयोः सहभावः प्रदर्श्यते । यथा घटे कृतकत्वमनित्यत्वं च दृष्टमिति । अव्यतिरेको यत्र विना साध्यसाधननिवृत्त्या तद्विपक्षभावो निदर्श्यते । यथा घटे मूर्तत्वमनित्यत्वं च दृष्टमिति ।’—न्यायप्र० पृ० ६-७ । ‘नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्... अम्बरवदिति... अननुगत... षट्पत्... अवापृत्त...’—प्रशस्त० पृ० २४७ ।

३ ‘अप्रदर्शितावयः... अनित्यशब्दः कृतकत्वात् षट्पत् इति । अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदिति ।’—न्यायवि० ३. १२७, १३५ ।

४ ‘अनन्वयो... यथा यो वक्ता स रागादिमान् इष्टपुरुषवत् । अव्य-

नहीं भी थे। आ० हेमचन्द्र ने धर्मकीर्ति की ही संशोधित दृष्टि का उपयोग करके पूर्ववर्ती दिङ्नाग, प्रशस्तपाद और धर्मकीर्ति तक के सामने कहा कि अप्रदर्शितान्वय या अप्रदर्शितव्यतिरेक दृष्टान्ताभास तभी कहा जा सकता है जब उसमें प्रमाण अर्थात् दृष्टान्त ही न रहे, वीप्सा आदि पदों का अप्रयोग इन दोषों का नियामक ही नहीं केवल दृष्टान्त का अप्रदर्शन ही इन दोषों का नियामक है। पूर्ववर्ती सभी आचार्य इन दो दृष्टान्ताभासों के उदाहरणों में कम से कम—अम्बरवत् घटवत्—जितना प्रयोग अनिवार्य रूप से मानते थे। आ० हेमचन्द्र के अनुसार ऐसे दृष्टान्तबोधक 'वत्' प्रत्ययान्त किसी शब्दप्रयोग की जरूरत ही नहीं—इसी अपने भाव को उन्होंने प्रमाणमीमांसा (२. १. २७) सूत्र की वृत्ति में निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट किया है—'एतौ च प्रमाणस्य अनुपदर्शनाद्भवतो न तु वीप्सासर्वावधारणपदानामप्रयोगात्, सस्त्वपि तेषु, असति प्रमाणे तयोर-सिद्धेरिति।'।

३ — आ० हेमचन्द्र की तीसरी विशेषता अनेक दृष्टियों से बड़े मार्के की है। उस साम्प्रदायिकता के समय में जब कि धर्मकीर्ति ने वैदिक और जैन सम्प्रदाय पर प्रबल चोट की और जब कि अपने ही पूज्य वादी देवसूरि तक ने 'शाख्यं कुर्यात् शठं प्रति' इस नीति का आश्रय करके धर्मकीर्ति का बदला चुकाया तब आ० हेमचन्द्र ने इस स्थल में बुद्धिपूर्वक उदारता दिखाकर साम्प्रदायिक भाव के विष को कम करने की चेष्टा की। जान पड़ता है अपने व्याकरण की तरह अपने प्रमाणग्रन्थ को भी सर्वपार्षद—सर्वसाधारण बनाने की आ० हेमचन्द्र की उदार इच्छा का ही यह परिणाम है। धर्मकीर्ति के द्वारा ऋषभ, वर्धमान आदि पर किये गए कटाक्ष और वादिदेव के द्वारा सुगत पर किये गए प्रतिकटाक्ष का तर्कशाल में कितना अनौचित्य है, उससे कितना रुचिभङ्ग होता है, यह सब सोचकर आ० हेमचन्द्र ने ऐसे उदाहरण^२ रचे जिनसे सबका मतलब सिद्ध हो पर किसी को आघात न हो।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व की है। धर्मकीर्ति ने अपने उदाहरणों में कपिल आदि में असर्वशक्त और

तिरेको यथा अवीतरागो वक्तृत्वात्, वैधर्म्योदाहरणम्, यत्रावीतरागत्वं नास्ति न स वक्ता यथोपलक्षणं इति ।—न्यायवि० ३. १२७, १३४ ।

१ 'सर्वपार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाभ्य-
णमतिरमणीयम् ।'—हैमश० १. १. २ ।

२ प्र० मी० २. १. २५ ।

श्रान्तासत्त्व साधकं जो अनुमान प्रयोग रखे हैं उनका स्वरूप तथा तदन्तर्गत हेतु का स्वरूप विचारते हुए जान पड़ता है कि सिद्धसेन के सम्मति जैसे और समन्तभद्र के श्राप्तमीमांसा जैसे कोई दूसरे ग्रन्थ धर्मकीर्ति के सामने अवश्य रहे हैं जिनमें जैन तार्किकों ने अन्य सांख्य आदि दर्शनमान्य कपिल आदि की सर्वज्ञता का और आसता का निराकरण किया होगा।

ई० १६३६]

[प्रमाणमीमांसा

दूषण दूषणाभास

परार्थानुमान का एक प्रकार कथा^१ भी है, जो पक्ष-प्रतिपक्षभाव के सिवाय कभी शुरु नहीं होती। इस कथा से संबन्ध रखनेवाले अनेक पदार्थों का निरूपण करनेवाला साहित्य विशाल परिमाण में इस देश में निर्मित हुआ है। यह साहित्य मुख्यतया दो परम्पराओं में विभाजित है—ब्राह्मण—वैदिक परम्परा और श्रमण—वैदिकेतर परम्परा। वैदिक परम्परा में न्याय तथा वैद्यक सम्प्रदाय का समावेश है। श्रमण परम्परा में बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय का समावेश है। वैदिक परम्परा के कथा संबन्धी इस वक्त उपलब्ध साहित्य में अक्षुपाद के न्यायसूत्र तथा चरक का एक प्रकरण—विमानस्थान मुख्य एवं प्राचीन हैं। न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, तात्पर्यटीका, न्यायमञ्जरी आदि उनके टीकाग्रन्थ तथा न्यायकलिका भी उतने ही महत्त्व के हैं।

बौद्ध सम्प्रदाय के प्रस्तुत विषयक साहित्य में उपायहृदय, तर्कशास्त्र, प्रमाणसमुच्चय, न्यायमुख, न्यायत्रिन्दु, वादन्याय इत्यादि ग्रन्थ मुख्य एवं प्रतिष्ठित हैं।

जैन सम्प्रदाय के प्रस्तुत साहित्य में न्यायावतार, सिद्धिविनिश्चयटीका, न्यायविनिश्चय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमाणनयत्त्वालोक इत्यादि ग्रन्थ विशेष महत्त्व के हैं। उक्त सब परम्पराओं के ऊपर निर्दिष्ट साहित्य के आधार से यहाँ कथासम्बन्धी कतिपय पदार्थों के बारे में कुछ मुद्दों

१ पुरातत्त्व पु० ३. अङ्क ३रे में मेरा लिखा 'कथापद्धतिनु' स्वरूप अने तेना साहित्यनु दिग्दर्शन' नामक लेख देखें।

पर लिखा जाता है जिनमें से सबसे पहले दूषण और दूषणाभास को लेकर विचार किया जाता है। दूषण और दूषणाभास के नीचे लिखे सुदों पर यहाँ विचार प्रस्तुत है—१. इतिहास, २. पर्याय—समानार्थक शब्द, ३. निरूपण-प्रयोजन, ४. प्रयोग की अनुमति या विरोध, ५. मेद-प्रमेद।

१—दूषण और दूषणाभास का शास्त्रीय निरूपण तथा कथा का इतिहास कितना पुराना है यह निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यवहार में तथा शास्त्र में कथा का स्वरूप निश्चित हो जाने के बाद बहुत ही जल्दी दूषण और दूषणाभास का स्वरूप तथा वर्गीकरण शास्त्रबद्ध हुआ होगा। दूषण और दूषणाभास के कमोवेश निरूपण का प्राथमिक यश ब्राह्मण परम्परा को है। बौद्ध परम्परा में उसका निरूपण ब्राह्मण परम्परा द्वारा ही दाखिल हुआ है। जैन परम्परा में उस निरूपण का प्रथम प्रवेश सान्नात् तो बौद्ध साहित्य के द्वारा ही हुआ जान पड़ता है। परम्परया न्याय साहित्य का भी इस पर प्रभाव अवश्य है। फिर भी इस बारे में वैद्यक साहित्य का जैन निरूपण पर कुछ भी प्रभाव पड़ा नहीं है जैसा कि इस विषय के बौद्ध साहित्य पर कुछ पड़ा हुआ जान पड़ता है। प्रस्तुत विषयक साहित्य का निर्माण ब्राह्मण परम्परा में ई० स० पूर्व दो या चार शताब्दियों में कभी प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है जब कि बौद्ध परम्परा में वह ईसवी सन् के बाद ही शुरू हुआ और जैनपरम्परा में तो और भी पीछे से शुरू हुआ है। बौद्ध परम्परा का वह प्रारम्भ ईसवी के बाद तीसरी शताब्दी से पुराना शायद ही हो और जैन परम्परा का वह प्रारम्भ ईसवी सन् के बाद पाँचवीं छठी शताब्दी से पुराना शायद ही हो।

२—उपालम्भ, प्रतिषेध, दूषण, खण्डन, उत्तर इत्यादि पर्याय शब्द हैं। हममें से उपालम्भ, प्रतिषेध आदि शब्द न्यायसूत्र (१. २. १) में प्रयुक्त हैं, जब कि दूषण आदि शब्द उसके भाष्य में आते हैं। प्रस्तुतविषयक बौद्ध साहित्य में से तर्कशास्त्र, जो प्रो० दुधची द्वारा प्रतिसंस्कृत हुआ है उसमें खण्डन शब्द का बार-बार प्रयोग है जब कि दिङ्नाग, शङ्करस्वामी, धर्मकीर्ति आदि ने दूषण शब्द का ही प्रयोग किया है। (देखो—न्यायमुख का० १६, न्यायप्रवेश पृ० ८, न्यायत्रिन्वु० ३. १३८)। जैन साहित्य में भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में उपालम्भ, दूषण आदि सभी पर्याय शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जाति, असदुत्तर, असम्यक् खण्डन, दूषणाभास आदि शब्द पर्यायभूत हैं जिनमें से जाति शब्द न्याय परम्परा के साहित्य में प्रधानतया प्रयुक्त देखा जाता है। बौद्ध साहित्य में असम्यक् खण्डन तथा जाति शब्द का प्रयोग कुछ प्राचीन ग्रन्थों में है, पर दिङ्नाग से लेकर सभी बौद्धतार्किकों के तर्कग्रन्थों में दूषणाभास शब्द के प्रयोग का प्राधान्य

हो गया है। जैन तर्कग्रन्थों में मिथ्योत्तर, जाति और दूषणाभास आदि शब्द प्रयुक्त पाये जाते हैं।

३—उद्देश विभाग और लक्षण आदि द्वारा दोषों तथा दोषाभासों के निरूपण का प्रयोजन सभी परम्पराओं में एक ही माना गया है और वह यह कि उनका यथार्थ ज्ञान किया जाए जिससे वादी स्वयं अपने स्थापनावान्य में उन दोषों से बच जाय और प्रतिवादी के द्वारा उद्भावित दोषाभास का दोषाभासत्व दिखाकर अपने प्रयोग को निर्दोष साबित कर सके। इसी मुख्य प्रयोजन से प्रेरित होकर किसी ने अपने ग्रंथ में संक्षेप से तो किसी ने विस्तार से, किसी ने अमुक एक प्रकार के वर्गीकरण से तो किसी ने दूसरे प्रकार के वर्गीकरण से, उनका निरूपण किया है।

४—उक्त प्रयोजन के बारे में सब का ऐकमत्य होने पर भी एक विशिष्ट प्रयोजन के विषय में मतभेद अवश्य है जो खास ज्ञातव्य है। वह विशिष्ट प्रयोजन है—जाति, छल आदि रूप से असत्य उत्तर का भी प्रयोग करना। न्याय (न्यायसू० ४.२.५०) हो या वैद्यक (चरक-विमानस्थान पृ० २६४) दोनों ब्राह्मण परम्पराएँ असत्य उत्तर के प्रयोग का भी समर्थन पहले से अभी तक करती आई हैं। बौद्ध परम्परा के भी प्राचीन उपायहृदय आदि कुछ ग्रन्थ जात्युत्तर के प्रयोग का समर्थन ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों की तरह ही साफ-साफ करते हैं, जब कि उस परम्परा के पिछले ग्रन्थों में जात्युत्तरों का वर्णन होते हुए भी उनके प्रयोग का स्पष्ट व सबल निषेध है—वादन्याय पृ० ७०। जैन परम्परा के ग्रन्थों में तो प्रथम से ही लेकर मिथ्या उत्तरों के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया गया है—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७६। उनके प्रयोग का समर्थन कभी नहीं किया गया। छल-जाति युक्त कथा कर्तव्य है या नहीं इस प्रश्न पर जब जब जैन तार्किकों ने जैनतर तार्किकों के साथ चर्चा की तब तब उन्होंने अपनी एक मात्र राय यही प्रकट की कि वैसी कथा कर्तव्य नहीं त्याज्य^१ है। ब्राह्मण बौद्ध और जैन सभी भारतीय दर्शनों का अन्तिम व मुख्य उद्देश मोक्ष बतलाया गया है और मोक्ष की सिद्धि असत्य या मिथ्याज्ञान से शक्य ही नहीं जो ज्ञात्युत्तरों में अवश्य गर्भित है। तब केवल जैनदर्शन के अनुसर ही क्यों, बल्कि ब्राह्मण और बौद्ध दर्शन के अनुसार भी ज्ञात्युत्तरों का प्रयोग असंगत है। ऐसा होते हुए भी ब्राह्मण और बौद्ध तार्किक उनके प्रयोग का समर्थन करते हैं और जैन तार्किक नहीं करते इस अन्तर का बीज क्या है, यह प्रश्न अवश्य

१ देखो सिद्धसेनकृत वादद्वात्रिंशिका ; वादाष्टक ; न्यायषि० २. २१४।

पैदा होता है। इसका जवाब जैन और जैनेतर दर्शनों के अधिकारियों की प्रकृति में है। जैन दर्शन मुख्यतया त्यागप्रधान होने से उसके अधिकारियों में मुमुक्षु ही मुख्य हैं, गृहस्थ नहीं। जब कि ब्राह्मण परम्परा चातुराश्रमिक होने से उसके अधिकारियों में गृहस्थों का, खासकर विद्वान् ब्राह्मण गृहस्थों का, बड़ी दर्जा है जो त्यागियों का होता है। गार्हस्थ्य की प्रधानता होने के कारण ब्राह्मण विद्वानों ने व्यावहारिक जीवन में सत्य, अहिंसा आदि नियमों पर उतना भार नहीं दिया जितना कि जैन त्यागियों ने उन पर दिया। गार्हस्थ्य के साथ अर्थलाभ, जयतृष्णा आदि का, त्यागजीवन की अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है। इन कारणों से ब्राह्मण परम्परा में मोक्ष का उद्देश्य होते हुए भी छल, जाति आदि के प्रयोग का समर्थन होना सहज था, जब कि जैन परम्परा के लिए वैसा करना सहज न था। क्या करना यह एक बार प्रकृति के अनुसार तथ्य हो जाता है तब विद्वान् उसी कर्तव्य का सयुक्तिक समर्थन भी कर लेते हैं। कुशाग्रीयबुद्धि ब्राह्मण तार्किकों ने यही किया। उन्होंने कहा कि तत्त्वनिर्णय की रक्षा के वास्ते कभी-कभी छल, जाति आदि का प्रयोग भी उपकारक होने से उपादेय है, जैसा कि अङ्कुररक्षा के वास्ते सकण्टक बाड़ का उपयोग। इस दृष्टि से उन्होंने छल, जाति आदि के प्रयोग की भी मोक्ष के साथ सङ्गति बतलाई। उन्होंने अपने समर्थन में एक बात स्पष्ट कह दी कि छल, जाति आदि का प्रयोग भी तत्त्वज्ञान की रक्षा के सिवाय लाभ, ख्याति आदि अन्य किसी भौतिक उद्देश्य से कर्तव्य नहीं है। इस तरह अवस्थाविशेष में छल, जाति आदि के प्रयोग का समर्थन करके उसकी मोक्ष के साथ जो सङ्गति ब्राह्मण तार्किकों ने दिखाई वही बौद्ध तार्किकों ने अक्षरशः स्वीकार करके अपने पक्ष में भी लागू की। उपायद्वय के लेखक बौद्ध तार्किक ने—छल जाति आदि के प्रयोग की मोक्ष के साथ कैसी असङ्गति है—यह आशङ्का करके उसका समाधान अक्षपाद के ही शब्दों^१ में किया है कि आम्रफल की रक्षा आदि के वास्ते कण्टकिल बाड़ की तरह सद्धर्म की रक्षा के लिए छलादि भी प्रयोगयोग्य हैं। वादसम्बन्धी पदार्थों के प्रथम चिन्तन, वर्गीकरण और सङ्कलन का श्रेय ब्राह्मण परम्परा को है या बौद्ध परम्परा को, इस प्रश्न का सुनिश्चित जवाब

१ 'सत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखा-
वरणवत् ।'^१—न्याय सू० ४.२.५० । 'यथाम्रफलपरिपुष्टिकामेन तत्(फल)परिरक्षणार्थं
बहिर्बहुतीक्ष्णकण्टकनिवरविन्यासः क्रियते, वादारम्भोऽपि तथैवाधुना सद्धर्मरक्षणो-
च्छ्रया न तु ख्यातिलाभाय ।'^२—उपायद्वय पृ० ४ ।

छुलादि के प्रयोग के उस समान समर्थन में से मिल जाता है। बौद्ध परम्परा मूल से ही जैन परम्परा की तरह त्यागमिच्छुप्रधान रही है और उसने एकमात्र निर्वाण तथा उसके उपाय पर भार दिया है। वह अपनी प्रकृति के अनुसार शुरू में कभी छल आदि के प्रयोग को सङ्गत मान नहीं सकती जैसा कि ब्राह्मण परम्परा मान सकती है। अतएव इसमें सन्देह नहीं रहता कि बुद्ध के शान्त और अवलोक्य धर्म की परम्परा के स्थापन व प्रचार में पड़ जाने के बाद भिक्षुओं को जब ब्राह्मण विद्वानों से लोहा लेना पड़ा तभी उन्होंने उनकी वादपद्धति का विशेष अभ्यास, प्रयोग व समर्थन शुरू किया। और जो जो ब्राह्मण, कुलागत संस्कृत तथा न्याय विद्या सीखकर बौद्ध परम्परा में दीक्षित हुए वे सभी अपने साथ कुलाधर्म की वे ही दलीलें ले आए जो न्याय परम्परा में थीं। उन्होंने नवस्वीकृत बौद्ध परम्परा में उन्हीं वादपदायों के अभ्यास और प्रयोग आदि का प्रचार किया जो न्याय या वैद्यक आदि ब्राह्मण परम्परा में प्रसिद्ध रहे। इस तरह प्रकृति में जैन और बौद्ध परम्पराएँ तुल्य होने पर भी ब्राह्मण विद्वानों के प्रथम सम्पर्क और संघर्ष की प्रधानता के कारण से ही बौद्ध परम्परा में ब्राह्मण परम्परानुसारी छल आदि का समर्थन प्रथम किया गया। अगर इस बारे में ब्राह्मण परम्परा पर बौद्ध परम्परा का ही प्रथम प्रभाव होता तो किसी न किसी अति प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ में तथा बौद्ध ग्रन्थ में बौद्ध प्रकृति के अनुसार छुलादि के वर्जन का ही ऐकान्तिक उपदेश होता। यद्यपि बौद्ध तार्किकों ने शुरू में छुलादि के समर्थन को ब्राह्मण परम्परा में से अपनाया पर आगे जाकर उनको इस समर्थन की अपने धर्म की प्रकृति के साथ विशेष असंगति दिखाई दी, जिससे उन्होंने उनके प्रयोग का स्पष्ट व सयुक्तिक निषेध ही किया। परन्तु इस बारे में जैन परम्परा की स्थिति निराली रही। एक तो वह बौद्ध परम्परा की अपेक्षा त्याग और उदासीनता में विशेष प्रसिद्ध रही, दूसरे इसके निर्ग्रन्थ भिक्षुक शुरू में ब्राह्मण तार्किकों के सम्पर्क व संघर्ष में उतने न आये जितने बौद्ध भिक्षुक, तीसरे उस परम्परा में संस्कृत भाषा तथा तदाश्रित विद्याओं का प्रवेश बहुत धीरे से और पीछे से हुआ। जब यह हुआ तब भी जैन परम्परा को उत्कट त्याग की प्रकृति ने उसके विद्वानों को छल आदि के प्रयोग के समर्थन से बिलकुल ही रोका। यही कारण है कि, सब से प्राचीन और प्राथमिक जैन तर्क ग्रन्थों में छुलादि के प्रयोग का स्पष्ट निषेध व परिहास^१ मात्र है। ऐसा होते हुए भी आगे जाकर जैन परम्परा को जब

१ देखो सिद्धसेनकृत वादद्वान्त्रिशिका।

दूसरी परम्पराओं से बार बार वाद में भिड़ना पड़ा तब उसे अनुभव हुआ कि छल आदि के प्रयोग का ऐकान्तिक निषेध व्यवहार्य नहीं। इसी अनुभव के कारण कुछ जैन तार्किकों ने छल आदि के प्रयोग का आपवादिक रूप से अवस्थाविशेष में समर्थन भी किया^१। इस तरह अन्त में बौद्ध और जैन दोनों परम्पराएँ एक या दूसरे रूप से समान भूमिका पर आ गईं। बौद्ध विद्वानों ने पहले छलादि के प्रयोग का समर्थन करके फिर उसका निषेध किया, जब कि जैन विद्वान् पहले आत्यन्तिक विरोध करके अन्त में अंशतः उससे सहमत हुए। यह ध्यान में रहे कि छलादि के आपवादिक प्रयोग का भी समर्थन श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है पर ऐसा समर्थन दिगम्बर तार्किकों के द्वारा किया हुआ देखने में नहीं आता। इस अन्तर के दो कारण मालूम होते हैं। एक तो दिगम्बर परम्परा में औत्सर्गिक त्याग अंश का ही मुख्य विधान है और दूसरा ग्यारहवीं शताब्दि के बाद भी जैसा श्वेताम्बर परम्परा में विविध प्रकृतिगामी साहित्य बना वैसा दिगम्बर परम्परा में नहीं हुआ। ब्राह्मण परम्परा का छलादि के प्रयोग का समर्थन तथा निषेध प्रथम से ही अधिकारीविशेषानुसार वैकल्पिक होने से उसका अपनी दृष्टि बदलने की जरूरत ही न हुई।

५ - अनुमान प्रयोग के पक्ष, हेतु, दृष्टान्त आदि अवयव हैं। उनमें आनेवाले वास्तविक दोषों का उद्घाटन करना दूषण है और उन अवयवों के निर्दोष होने पर भी उनमें असत् दोषों का आरोपण करना दूषणाभास है। ब्राह्मण परम्परा के मौलिक ग्रन्थों में दोषों का, खासकर हेतु दोषों का ही वर्णन है। पक्ष, दृष्टान्त आदि के दोषों का स्पष्ट वैसा वर्णन नहीं है जैसा बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में दिङ्नाग से लेकर वर्णन है। दूषणाभास के छल, जाति रूप से भेद तथा उनके प्रभेदों का जितना विस्तृत व स्पष्ट वर्णन प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में है उतना प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में नहीं है और पिछले बौद्ध ग्रन्थों में तो वह नाम-शेष मात्र हो गया है। जैन तर्कग्रन्थों में जो दूषण के भेद-प्रभेदों का वर्णन है वह मूलतः बौद्ध ग्रन्थानुसारी ही है और जो दूषणाभास का वर्णन है वह भी बौद्ध परम्परा से साक्षात् सम्बन्ध रखता है^२। इसमें जो ब्राह्मण परम्परानुसारी वर्णन खरडनीयरूप से आया है वह खासकर न्यायसूत्र और उसके टीका, उप-टीका ग्रन्थों से आया है। यह अचरज की बात है कि ब्राह्मण परम्परा के वैदिक

१ 'अयमेव विधेयस्तत् तच्चज्ञेन तपस्विना । देशाद्यपेक्षयाऽन्योऽपि विज्ञाय गुरुलाघवम् ॥'-यशो० वादद्वा० श्लो० ८ ।

२ मितात्रो-न्यायमुख, न्यायप्रवेश और न्यायावतार ।

ग्रन्थ में आनेवाले दूषणाभास का निर्देश जैन ग्रन्थों में खण्डनीय रूप से भी कहीं देखा नहीं जाता ।

आ० हेमचन्द्र ने दो सूत्रों में क्रम से जो दूषण और दूषणभास का लक्षण रचा है उसका अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा न्यायप्रवेश (पृ० ८) की शब्दरचना के साथ अधिक सादृश्य है । परन्तु उन्होंने सूत्र की व्याख्या में जो जात्युत्तर शब्द का अर्थप्रदर्शन किया है वह न्यायचिन्दु (३. १४०) की धर्मात्तरीय व्याख्या से शब्दशः मिलता है । हेमचन्द्र ने दूषणाभासरूप से चौबीस जातियों का तथा तीन छुलों का जो बर्णन किया है वह अक्षरशः जयन्त की न्यायकलिका (पृ० १६-२१) का अवतरणमात्र है ।

आ० हेमचन्द्र ने छुल को भी जाति की तरह असदुत्तर होने के कारण जात्युत्तर ही माना है । जाति हो या छुल सबका प्रतिसमाधान सच्चे उत्तर से ही करने को कहा है, परन्तु प्रत्येक जाति का अलग-अलग उत्तर जैसा अक्षपाद ने स्वयं दिया है, वैसा उन्होंने नहीं दिया—प्र० मी० २. १. २८, २६ ।

कुछ ग्रन्थों के आधार पर जातिविषयग एक कोष्ठक नीचे दिया जाता है—

न्यायसूत्र ।	वादविधि, प्रमाणसमुच्चय, न्यायमुख, तर्कशास्त्र ।	उपायहृदय ।
साधर्म्यसम	”	”
वैधर्म्यसम	”	”
उत्कर्षकम	...	”
अपकर्षसम	...	”
वर्ण्यसम
अवर्ण्यसम
विकल्पसम	”	...
साध्यसम
प्राप्तिसम	”	”
अप्राप्तिसम	”	”
प्रसङ्गसम	”	...
प्रतिदृशान्तसम	”	”
अनुत्पत्तिसम	”	”
संशयसम	”	”

प्रकरणसम
अहेतुसम	”	कालसम
अर्थापत्तिसम	”	...
अविशेषसम	”	...
उपपत्तिसम
उपलब्धिसम	”	...
अनुपलब्धिसम
नित्यसम	”	...
अनित्यसम
कार्यसम	कार्यमैद	”
	अनुक्ति	
	स्वार्थविरुद्ध	

भेदाभेद, प्रश्नबाहुल्योत्तराल्पता,
प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्य, हेतुसम,
व्याप्ति, अव्याप्तिसम, विरुद्ध,
अविरुद्ध, असंशय, श्रुतिसम,
श्रुतिभिन्न ।